भर्तृहरि वैराग्यशतक

(हिन्दी पद्यानुवाद)

अनुवादक

बैजनाथप्रसाद शुक्ल 'भव्य'

लखनऊ

आशीर्वचन

सं० ८९४/पीएस-एचई

विष्णुकान्त शास्त्री
राज्यपाल, उत्तर प्रदेश

राज भवन
लखनऊ - २२७१३२
अप्रैल ३, २००१

प्रिय शुक्ल जी,

सस्नेह नमस्कार।

भर्तृहरि वैराग्यशतक के पहले छन्द का अनुवाद आपने बहुत अच्छा किया है। इसके लिए आपको बधाई। प्रभु कृपा से पूरा अनुवाद अच्छा हुआ होगा, इसके लिए मेरी मंगलकामनाएं।

सानन्द रहें, सर्जनारत रहें।

शुभेच्छु,

विष्णुकान्त शास्त्री

(विद्वद्वरेण्य चारुशील महामहिम राज्यपाल महोदय को प्रथम श्लोक का अनुवाद निवेदित करने पर प्राप्त आशीर्वचन - अनुगृहीत, 'भव्य')

रूपान्तरकार एवं प्रकाशक :
बैजनाथप्रसाद शुक्ल 'भव्य'
भव्य भारती
७०, चाँदगंज गार्डेन, लखनऊ–२२६०२४
दूरभाष : ३३५२६२

प्रथम संस्करण : सन् २००१

मूल्य : पचास रूपये मात्र

40 pages

मुद्रक : माइक्रो प्रिन्टर्स, १२–यूजीएफ, ज्ञान भवन,
कपूरथला, अलीगंज, लखनऊ

ॐ

भर्तृहरि वैराग्यशतक

(१)

चूडोत्तंसितचन्द्रचारुकलिकाचञ्चच्छिखाभास्वरो
लीलादग्धविलोलकामशलभः श्रेयोदशाग्रे स्फुरन्।
अन्तःस्फूर्जदपारमोहतिमिरप्राग्भारमुच्चाटयन्
श्चेतःसद्मनि योगिनां विजयते ज्ञानप्रदीपो हरः।।

केशकलित कल शशि–कलिका की, किरण–प्रभा से जो भास्वर।
चंचल काम–शलभ को जिसने, भस्म किया ज्यों क्रीड़ा कर।।
ज्ञान–वर्तिका–शीर्ष–प्रकाशक, उर घन मोह–तिमिर क्षयकर।
ज्ञान–दीप वे योगी–उर–गृह, हैं सर्वोच्च प्रतिष्ठित हर।।

(२)

भ्रान्तं देशमनेकदुर्गविषमं प्राप्तं न किञ्चित् फलं
त्यक्त्वा जातिकुलाभिमानमुचितं सेवा कृता निष्फला।
भुक्तं मानविवर्जितं परगृहेष्वाशंकया काकव–
त्तृष्णे जृम्भसि पापकर्मपिशुने नाद्यापि संतुष्यसि।।

भ्रमा विषम दुर्गम देशों में, सेवा की तज कुल का मान।
जाति–मान भी इस हित त्यागा, पर न हुआ यह श्रम फलवान।।
पर घर जाकर मानरहित हो, भीत काक–सा पेट भरा।
फिर भी तू सन्तुष्ट न तृष्णे! दुर्मति लेती पाप करा।।

अनु० 'भव्य'

(३)

उत्खातं निधिशंकया क्षितितलं ध्माता गिरेर्धातवो
निस्तीर्णः सरितांपतिर्नृपतयो यत्नेन संतोषिताः।
मन्त्राराधनतत्परेण मनसा नीताः श्मशाने निशाः
प्राप्तः काणवराटकोऽपि न मया तृष्णे सकामा भव।।

निधि पाने की आशा में ही, खन डाला है धरती तल।
विपुल धातुएं गिरि की फूँकीं, पार किया सागर–मण्डल।।
तृप्त सयत्न किया भूपों को, और मंत्र मन से जप कर।
बिता दिये निशि मरघट में ही, किन्तु मिला है क्या इस पर।।
नहीं एक कानी कौड़ी तक, लग पायी है मेरे हाथ।
अरे ! छोड़ दे तृष्णे! मुझको, जा–जा तज दे मेरा साथ।।

(४)

खलालापाः सोढाः कथमपि तदाराधनपरै–
र्निगृह्यान्तर्बाष्पं हसितमपि शून्येन मनसा।
कृतो वित्तस्तम्भप्रतिहतधियामञ्जलिरपि
त्वमाशे! मोघाशे! किमपरमतो नर्तयसि माम्।।

दुष्ट जनों की सेवा में रत, ज्यों त्यों खोटे वचन सहे।
रोक रुदन को अन्तरमन में, बाहर सस्मित बने रहे।।
धन के मद से मूढ़ जनों को, हाथ जोड़ कर किया नमन।
निष्फल आशे ! आगे क्या क्या, और करायेगी नर्तन।।

(५)

अमीषां प्राणानां तुलितबिसिनीपत्रपयसां
कृते किं नास्माभिर्विगलितविवेकैर्व्यवसितम्।
यदाढ्यानामग्रे द्रविणमदनिःसंज्ञमनसां
कृतं वीतव्रीडैर्निजगुणकथापातकमपि।।

अनु० 'भव्य'

पद्म–पत्र पर जल–सम चल क्षर, इन प्राणों के रक्षण–हित।
नहीं किया दुष्कर्म कौन–सा, हमने हो प्रज्ञा–विरहित।।
धनमदान्ध निःशंक चित्त जो, ऐसे भी जन के आगे।
जाकर निजगुणकथन महा अघ, किया सकल लज्जा त्यागे।।

(६)

क्षान्तं न क्षमया गृहोचितसुखं त्यक्तं न संतोषतः
सोढा दुःसहशीतवाततपनक्लेशा न तप्तं तपः।
ध्यातं वित्तमहर्निशं नियमितप्राणैर्न शंभोः पदं
तत्तत्कर्म कृतं यदेव मुनिभिस्तैस्तैः फलैर्वञ्चिताः।।

सहे बहुत पर उस सहने में, क्षमा न कारण रही कहीं।
गृह–सुख त्यागा, किन्तु त्याग में, तुष्टि–भाव था हेतु नहीं।।
शीत वात के तथा तपन के, दुःख दुसह तो बहुत सहे।
पर न ताप थे उनमें वे जो, तपानुषंगिक गये कहे।।
ध्यान वित्त का किया निरन्तर, पर शिव–चरणों का न कभी।
मुनि अनुरूप कर्म करके भी, शुभ फल हमें न प्राप्त तभी।।

(७)

भोगा न भुक्ता वयमेव भुक्ता–स्तपो न तप्तं वयमेव तप्ताः।
कालो न यातो वयमेव याता–स्तृष्णा न जीर्णा वयमेव जीर्णाः।।

भोग नहीं भोगे हैं हमने, स्वयं हमीं हैं भुक्त हुए।
तपे नहीं हैं तप भी हमने, स्वयं हमीं हैं तप्त हुए।।
नहीं काल है विगत हुआ पर, स्वयं हमीं हैं बीत चले।
हाय! न तृष्णा जीर्ण हुई यह, स्वयं हमीं हैं जीर्ण ढले।।

(८)

वलिभिर्मुखमाक्रान्तं पलितेनांकितं शिरः।
गात्राणि शिथिलायन्ते तृष्णैका तरुणायते।।

अनु० भाष्य

केश पलित हो गये और है, आनन पर सिकुड़न छाई।
अंग शिथिल सब पर तृष्णा की, बढ़ती जाती तरुणाई।।

(९)

निवृत्ता भोगेच्छा पुरुषबहुमानोऽपि गलितः
समानाः स्वर्याताः सपदि सुहृदो जीवितसमाः।
शनैर्यष्ट्युत्थानं घनतिमिररुद्धे च नयने
अहो मूढः कायस्तदपि मरणापायचकितः।।

जाती रही सकल भोगेच्छा, विगत हो गया है सब मान।
सम वयस्क सब हुए कालगत, सुहृदों का है निकट प्रयाण।।
उठते धीरे लकुटी धर कर, नेत्रों में है धुन्ध–विकार।
फिर भी ढीठ निलज्ज मनुज हों, मृत्यु–नाम सुन चकित अपार।।

(१०)

आशा नाम नदी मनोरथजला तृष्णातरंगाकुला
रागग्राहवती वितर्कविहगा धैर्यद्रुमध्वंसिनी।
मोहावर्तसुदुस्तरातिगहना प्रोत्तुंगचिन्तातटी
तस्याः पारगता विशुद्धमनसो नन्दन्ति योगीश्वराः।।

आशा सरिता सलिल मनोरथ, तृष्णा क्षोभंकरी तरंग।
राहु ग्राह हैं खग वितर्क हैं, धैर्य–तीर–तरु करती भंग।।
मोह–भँवर–संकुल दुस्तर यह, चिन्ता इसके ऊँचे तीर।
इसे पार कर सके शुद्धउर, कोई योगीश्वर मतिधीर।।

(११)

न संसारोत्पन्नं चरितमनुपश्यामि कुशलं
विपाकः पुण्यानां जनयति भयं मे विमृशतः।

अनु० 'भव्य'

महद्भिः पुण्यौघैश्चिरपरिगृहीताश्च विषया
महान्तो जायन्ते व्यसनमिव दातुं विषयिणाम्।।

इस जग में जनमे लोगों में, कुछ भी कुशल न पाता हूँ।
और पुण्य का अन्तिम फल भी, देख–देख डर जाता हूँ।।
विपुल पुण्य कर्मों के फल से, मिलता विषयों का चिर भोग।
मिलता यह मानों इस हितही, दुख ही पायें विषयी लोग।।

(१२)

अवश्यं यातारश्चिरतरमुषित्वापि विषया
वियोगे को भेदस्त्यजति न जनो यत् स्वयममून्।
व्रजन्तः स्वातन्त्र्यादतुलपरितापाय मनसः
स्वयं त्यक्ता ह्येते शमसुखमनन्तं विदधति।।

रहें विषय–सुख क्यों न अधिक दिन, एक दिवस होंगे ही नष्ट।
तजें इन्हें हम या ये हमको, ये छूटेंगे है सुस्पष्ट।।
स्वयं छोड़ दें यदि ये हमको, दुखी करेंगे मन अत्यन्त।
तो न स्वयं ही क्यों न तजें हम, पायें यों सुख शान्ति अनन्त।।

(१३)

ब्रह्मज्ञानविवेकनिर्मलधियः कुर्वन्त्यहो दुष्करं
यन्मुञ्चन्त्युपभोगभाञ्ज्यपि धनान्येकान्ततो निःस्पृहाः।।
संप्राप्तान्न पुरा न संप्रति न च प्राप्तौ दृढप्रत्यया–
न्वाञ्छामात्रपरिग्रहानपि परं त्यक्तुं न शक्ता वयम्।।

ब्रह्म–ज्ञान सँग ले विवेक–बल, चित्त बना कर निज निर्मल।
जो जन निःस्पृह सहज भाव से, तजें वस्तुएं भोग्य सकल।।
वे अति दुष्कर कार्य करें यह, किन्तु हमारी यह गति है।
भोग न जिसे पूर्व भोगा है, न तो प्राप्त जो संप्रति है।।

अनु० 'भव्य'

और न जिसको पाने की है, आगे भी आशा निश्चित।
उसको तज दें शक्ति न हममें, क्यों न भोग हो वह कल्पित।।

(१४)

धन्यानां गिरिकन्दरेषु वसतां ज्योतिः परं ध्यायता–
मानन्दाश्रुकणान् पिबन्ति शकुना निःशङ्कमङ्केशयाः।
अस्माकं तु मनोरथोपरचितप्रासादवापीतट–
क्रीडाकाननकेलिकौतुकजुषामायुः परं क्षीयते।।

परब्रह्म में ध्यान लगाये, वे गिरि–गुहा–निवासी जन।
परम धन्य हैं बैठ अंक में, जिनके निर्भय पक्षीगण।।
पान करें आनन्द–अश्रु का, उनके दृग से जो विगलित।
जब कि हमारा जीवन जाता, व्यर्थ मनोरथ करते नित।।
उत्सुक रहते क्रीड़ा–कानन, वापी औ' प्रासाद मिलें।
कौतुक केलि वहाँ रचने से, सुख के इष्ट प्रसून खिलें।।

(१५)

भिक्षाशनं तदपि नीरसमेकवारं
शय्या च भूः परिजनो निजदेहमात्रम्।
वस्त्रं विशीर्ण शतखण्डमयी च कन्था
हा हा तथापि विषया न परित्यजन्ति।।

पाकर भिक्षा, वह भी रूखी, एक बार ही जो खाते।
मात्र गात्र है परिजन जिनका, धरती पर जो सो जाते।।
फटी पुरानी शत छिद्रों की, कन्था ही जिनका पट है।
हा ! तब भी विषयेच्छा उनकी, मिटी न ऐसी उत्कट है।।

(१६)

स्तनौ मांसग्रन्थी कनककलशावित्युपमितौ
मुखं श्लेष्मागारं तदपि च शशांकेन तुलितम्।

अनु० 'भव्य'

स्रवितमूत्रक्लिन्नं करिवरशिरस्पर्धि जघनं
मुहुर्निन्द्यं रूपं कविजनविशेषैर्गुरु कृतम्।।

युगलस्तन जो मांस–ग्रन्थि बस, कनक–कलश सम हैं उपमित।
मुख जो श्लेष्मा पूरित रहता, विधु–समान है वह वन्दित।।
स्रवित मूत्र से आर्द्र जानु को, करिवर–शुण्ड–समान कहें।
अचरज है अति निंद्य रूप को, कविवर गरिमावान कहें।।

(१७)

एको रागिषु राजते प्रियतमादेहार्धहारी हरो
नीरागेषु जनो विमुक्तललनासंगो न यस्मात् परः।
दुर्वारस्मरवाणपन्नगविषव्याविद्धमुग्धो जनः
शेषः कामविडम्बितान्न विषयान् भोक्तुं न मोक्तुं क्षमः।।

शिव प्रियतमा पार्वती को दे, अर्द्ध अंश अपने तन में।
धारण करके ज्यों कहलाये, अग्रगणी रागी जन में।।
त्यों ही तो वे त्यागि जनों में, जिन्हें न नारी प्रति रति है।
सर्वश्रेष्ठ हैं माने जाते, उन–सा क्या कोई यति है।।
अन्य सभी साधारण जन सह, कामबाण–अहि–विष की आग।
सकें न भोग विषय–सुख विधिवत, ना ही सकें उसे वे त्याग।।

(१८)

अजानन्दाहात्म्यं पततु शलभस्तीव्रदहने
स मीनोऽप्यज्ञानाद्वडिशयुतमश्नातु पिशितम्।
विजानन्तोऽप्येते वयमिह विपज्जालजटिला–
न्न मुञ्चामः कामानहह गहनो मोहमहिमा।।

अग्नि–प्रभाव न ज्ञात शलभ को, दीप–ज्वाल में जल जाता।
मीन बिना जाने बंसी में, अंकुश है आमिष खाता।।

अनु० 'भव्य'

यह होता अनजाने में पर, जान बूझ कर नर पड़ता।
विपज्जाल में, उसे न त्यागे, ऐसी मोह–जनित जड़ता।।

(१९)

तृषा शुष्यत्यास्ये पिबति सलिलं शीतमधुरं
क्षुधार्तः शाल्यन्नं कवलयति मांसादिकलितम्।
प्रदीप्ते कामाग्नौ सुदृढतरमालिङ्गति वधूं
प्रतीकारं व्याधेः सुखमिति विपर्यस्यति जनः।।

मधु शीतल जल तब पीते जब, तीव्र तृषा से शुष्क वदन।
जब क्षुधार्त तो तन्दुल खाते, करते हैं मांसादि ग्रहण।।
जब कामाग्नि दग्ध होते तब, करें प्रगाढ़ प्रियालिंगन।
कैसी है विपरीत लोक–मति, सुख केवल ज्यों व्याधि–शमन।।

(२०)

तुङ्गं वेश्म सुताः सतामभिमताः संख्यातिगाः संपदः
कल्याणी दयिता वयश्च नवमित्यज्ञानमूढो जनः।
मत्वा विश्वमनश्वरं निविशते संसारकारागृहे
संदृश्य क्षणभंगुरं तदखिलं धन्यस्तु संन्यस्यति।।

तुंग भवन, सुत सुजन–प्रशंसित, एवं इष्ट अपरिमित धन।
भार्या भी अनुकूल वर्तिनी, एवं नव विकसित यौवन।।
इनको मान अनश्वर इनमें, रमें मूढ़ सह जग–कारा।
धन्य वही संन्यस्त हुआ जो, जिसे कि क्षणभंगुर सारा।।

(२१)

दीना दीनमुखैः सदैव शिशुकैराकृष्टजीर्णाम्बरा
क्रोशद्भिःक्षुधितैर्निरन्नविधुरा दृश्या न चेद्गेहिनी।
याञ्चाभङ्गभयेन गद्गदगलत्त्रुट्यद्विलीनाक्षरं
को देहीति वदेत् स्वदग्धजठरस्यार्थे मनस्वी पुमान्।।

अनु० 'भव्य'

क्यों न मनस्वी जन के सम्मुख, प्रस्तुत हो यों दृश्य कराल।
बच्चे खींच रहे पत्नी के, जीर्ण वस्त्र हो क्षुधा–विहाल।।
क्यों न दिखाई दे पत्नी भी, अन्नाभाव–विवश अति म्लान।
फिर भी माँग न सकें उदर–हित, छूँछे उत्तर का भय मान।।

(२२)

अभिमतमहामानग्रन्थिप्रभेदपटीयसी
गुरुतरगुणग्रामाम्भोजस्फुटोज्ज्वलचन्द्रिका।
विपुलविलसल्लज्जावल्लीवितानकुठारिका
जठरपिठरी दुष्पूरेयं करोति विडम्बनम्।।

सकल तापप्रद उदर–पात्र यह, सम्मानित का मान हरे।
अति शंसित गुणगण–शतदल को, बन शशि–कर संकुचित करे।।
इसकी पूर्ति कुठार–धार–सम, जो कर देती है खण्डित।
सुन्दर लज्जा–लतिका को जो, बन वितान रहती विलसित।।

(२३)

पुण्ये ग्रामे वने वा महति सितपटच्छन्नपालिं कपालिं
ह्यादाय न्यायगर्भद्विजहुतहुतभुग्धूमधूम्रोपकण्ठे।
द्वारं द्वारं प्रविष्टो वरमुदरदरीपूरणाय क्षुधार्तो
मानी प्राणैः सनाथो न पुनरनुदिनं तुल्यकुल्येषु दीनः।।

गावों में जा जहाँ शास्त्रविद्, द्विज से यज्ञानल आहूत।
कर डाले हो गृह–द्वारों को, मलिन धूम से पर अति पूत।।
अथवा किसी बृहद् वन जाकर, जहाँ वानप्रस्थी–तृण–वास।
सितपट–आवृत भैक्ष्य–पात्र में, लेना द्वार–द्वार पर ग्रास।।
इस विधि अनुदिन है क्षुधार्त की, क्षुधा–निवारण–कृति में श्रेय।
पर है सम–पद स्वजनों–सम्मुख, दैन्य–प्रकाशन निश्चित हेय।।
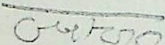
(२४)

गंगातरंगकणशीकरशीतलानि
विद्याधराध्युषितचारुशिलातलानि।
स्थानानि किं हिमवतः प्रलयं गतानि
यत्सावमानपरपिण्डरता मनुष्याः।।

सुरसरि की लहरों के जल-कण, तथा सीकरों से शीतल।
नित्य तथा रहते थे सेवित, विद्याधर से जिनके तल।।
क्या ऐसी वे सभी शिलाएं, हिमगिरि की हैं प्रलय-विलीन।
फिर परान्न पर क्यों जीते हैं, नर होकर अपमानित दीन।।

(२५)

किं कन्दाः कन्दरेभ्यः प्रलयमुपगता निर्झरा वा गिरिभ्यः
प्रध्वस्ता वा तरुभ्यःसरसफलभृतो वल्कलिन्यश्च शाखाः।
वीक्ष्यन्ते यन्मुखानि प्रसभमपगतप्रश्रयाणां खलानां
दुःखाप्तस्वल्पवित्तस्मयपवनवशान्नर्तितभ्रूलतानि।।

क्या कन्दर के कन्द कि गिरि के, निर्झर हुए प्रलीन समस्त।
क्या मीठे फलवाले तरुवर, वल्कलप्रद शाखाएं ध्वस्त।।
फिर नर क्यों मुख ताकें उनका, जो खल अतिशय विनय-विहीन।
दुख सह लव धन पा भ्रू-लतिका, रखें कुटिल मद-पवन-अधीन।।

(२६)

पुण्यैर्मूलफलैस्तथा प्रणयिनीं वृत्तिं कुरुष्वाधुना
भूशय्यां नवपल्लवैरकृपणैरुत्तिष्ठ यावो वनम्।
क्षुद्राणामविवेकमूढमनसां यत्रेश्वराणां सदा
वित्तव्याधिविकारविह्वलगिरां नामापि न श्रूयते।।

प्रिये! जीविका फलमूलों की, अति सुखकर अब ग्रहण करो।
दीप्त नवल किसलय से विरचित, भू-शय्या अब वरण करो।।

अनु० 'भव्य'

चलो चलें वन जहाँ नाम तक, नहीं सुनाई है पड़ता।
उनका जो हैं धनी किन्तु है, जिनके भीतर अति जड़ता।।
जो हैं क्षुद्र और है जिनका, मानस बुद्धि–विवेक–रहित।
मनोव्याधि–विह्वल वचनों को, करते हैं जो उच्चारित।।

(२७)

फलं स्वेच्छालभ्यं प्रतिवनमखेदं क्षितिरहां
पयः स्थाने स्थाने शिशिरमधुरं पुण्यसरिताम्।
मृदुस्पर्शा शय्या सुललितलतापल्लवमयी
सहन्ते संतापं तदपि धनिनां द्वारि कृपणाः।।

वन–वन में हैं विना क्लेश के, सुलभ यथेच्छ वृक्ष के फल।
जगह–जगह पर शुचि नदियों का, मिल जाता मधु शीतल जल।।
ललित लता पल्लव से विरचित, मिल जाता है मृदुल शयन।
फिर भी जाकर द्वार धनिक के, करें कृपण जन ताप–सहन।।

(२८)

ये वर्तन्ते धनपतिपुरः प्रार्थना दुःखभाजो
ये चाल्पत्वं दधति विषयाक्षेपपर्याप्तबुद्धेः।
तेषामन्तःस्फुरितहसितं वासराणि स्मरेयं
ध्यानच्छेदे शिखरिकुहरग्रावशय्यानिषण्णः।।

जो धनिकों के सम्मुख याचक, बनने का दुख सहते हैं।
विषय–भोग–संग्रह में जो, मति कुशल लगाये रहते हैं।।
इस प्रकार जो दिवस गँवाते, उनका स्मरण करेंगे हम।
मन में हँस गिरि–गुहा–शिला पर, ध्यान–दशा का जब उपशम।।

(२६)

ये संतोषनिरन्तरप्रमुदितास्तेषां न भिन्ना मुदो
ये त्वन्ये धनलुब्धसंकुलधियस्तेषां न तृष्णा हता।

इत्थं कस्य कृते कृतः स विधिना कीदृक् पदं संपदां
स्वात्मन्येव समाप्तहेममहिमा मेरुर्न मे रोचते।।

मिले दैववश जो उससे ही, तृप्ति जिन्हें वे मुदित सदा।
जबकि अन्यजन धन–लिप्सा वश, पायें निज को तृषित सदा।।
जब यह स्थिति तो व्यर्थ मेरु की, विधि ने कर डाली रचना।
अपने तक ही उसका गौरव, सकल स्वर्ण का क्यों न बना।।

(३०)

भिक्षाहारमदैन्यमप्रतिसुखं भीतिच्छिदं सर्वतो
दुर्मात्सर्यमदाभिमानमथनं दुःखौघविध्वंसनम्।
सर्वत्रान्वहमप्रयत्नसुलभं साधुप्रियं पावनं
शंभोः सत्रमवार्यमक्षयनिधिं शंसन्ति योगीश्वराः।।

दैन्य नहीं है भिक्षा में कुछ, वह है सुखकर भय–वारक।
मत्सरादि दोषों की नाशक, भव–दुःखों की संहारक।।
नित्य सहज सर्वत्र सुलभ है, साधुजनों को शुचि प्रियकर।
प्रेय सदाव्रत अक्षय हर–निधि, योगिजनों से वन्दित वर।।

(३१)

भोगे रोगभयं कुले च्युतिभयं वित्ते नृपालाद्भयं
माने दैन्यभयं बले रिपुभयं रूपे जराया भयम्।
शास्त्रे वादिभयं गुणे खलभयं काये कृतान्ताद्भयं
सर्वं वस्तु भयान्वितं भुवि नृणां वैराग्यमेवाभयम्।।

भोगों में भय रहे रोग का, कुल में रहता अवनति–भय।
रहे दैन्य–भय निजी मान में, बल में रिपु से है क्षति–भय।।
रहे रूप में वृद्धापन–भय, शास्त्र–विषय में वादी–भय।
भय से ग्रस्त सभी कुछ जग में, नर–हित बस वैराग्य अभय।।

(३२)

आक्रान्तं मरणेन जन्म जरसा चात्युज्ज्वलं यौवनं
संतोषो धनलिप्सया शमसुखं प्रौढांगनाविभ्रमः।
लोकैर्मत्सरिभिर्गुणा वनभुवो व्यालैर्नृपा दुर्जनै–
रस्थैर्येण विभूतयोऽप्युपहता ग्रस्तं न किं केन वा।।

जन्म बँधा है मृत्यु–पाश में, जरा ग्रसे है यौवन को।
धन–लिप्सा है ग्रसे तोष को, प्रौढ़ा–छल शम–सुखगण को।।
मनुज ग्रस्त है मत्सरादि से, वन हैं ग्रस्त व्याघ्र गण से।
नृप कुमंत्र से, धन विनाश से, यहाँ न कौन ग्रस्त किससे।।

(३३)

आधिव्याधिशतैर्जनस्य विविधैरारोग्यमुन्मूल्यते
लक्ष्मीर्यत्र पतन्ति तत्र विवृतद्वारा इव व्यापदः।
जातं जातमवश्यमाशु विवशं मृत्युः करोत्यात्मसा–
त्तत्किं तेन निरंकुशेन विधिना यन्निर्मितं सुस्थिरम्।।

शत–शत आधि–व्याधि नाना विधि, मानव स्वास्थ्य विनष्ट करें।
रहतीं लक्ष्मी जहाँ वहाँ वे, द्वार खोलकर विपद् भरें।।
जो जन्मा है वह परवश–सा, होता मृत्यु–ग्रस्त निश्चित।
कहाँ निरंकुश विधि ने कुछ भी, रचा रहे जो चिर संस्थित।।

(३४)

भोगास्तुंगतरंगभंगतरलाः प्राणाः क्षणध्वंसिनः
स्तोकान्येव दिनानि यौवनसुखस्फूर्तिः प्रियासु स्थिता।
तत्संसारमसारमेव निखिलं बुद्ध्वा बुधा बोधका
लोकानुग्रहपेशलेन मनसा यत्नः समाधीयताम्।।

विषय भोग हैं तुंग लहर–सम, बढ़ें घटें चंचल अतिशय।
प्राण क्षणिक हैं, देता सुख है, कुछ क्षण युवती का संश्रय।।

अनु० 'भव्य'

तभी विवुध इस जग को नश्वर, समझ यही सिखलाते हैं।
जीवन में आदर्श पाल मन, रखो शान्त बतलाते हैं।।

(३५)

भोगा मेघवितानमध्यविलसत्सौदामिनीचञ्चला
आयुर्वायुविघट्टिताब्जपटलीलीनाम्बुवद्भंगुरम्।
लोला यौवनलालसास्तनुभृतामित्याकलय्य द्रुतं
योगे धैर्यसमाधिसिद्धसुलभे बुद्धिं विधध्वं बुधाः।।

भोग मनुज के हैं सब अस्थिर, ज्यों चपला–द्युति वारिद–उर।
आयु अनिल–दोलित शतदल पर, जल–कण–सी है क्षणभंगुर।।
यौवन के अभिलाष इसी विधि, समझ क्षणिक हैं हे बुधजन।
ब्रह्म–ध्यान–सुख–सुलभ मार्ग में, निरत करो मन संयत बन।।

(३६)

आयुः कल्लोललोलं कतिपयदिवसस्थायिनी यौवनश्री–
रर्थाः संकल्पकल्पा घनसमयतडिद्विभ्रमा भोगपूगाः।
कण्ठाश्लेषोपगूढं तदपि च न चिरं यत्प्रियाभिः प्रणीतं
ब्रह्मण्यासक्तचित्ता भवत भवभयाम्भोधिपारं तरीतुम्।।

आयु सलिल–लहरी–सी चंचल, यौवन श्री बस कुछ दिन–हित।
अर्थ मनोरथ–सदृश त्वरितक्षर, भोग क्षणिक ज्यों मेघः–तड़ित।।
और त्रिया जो कण्ठालिंगन, दे वह भी न चिरस्थायी।
अतः मनुज भव–सिन्धुतरण–हित बनो ब्रह्म–सुख रसपायी।।

(३७)

कृच्छ्रेणामेध्यमध्ये नियमिततनुभिः स्थीयते गर्भवासे
कान्ताविश्लेषदुःखव्यतिकरविषमो यौवने चोपभोगः।
वामाक्षीणामवज्ञाविहसितवसतिर्वृद्धभावोऽप्यसाधुः
संसारे रे मनुष्या वदत यदि सुखं स्वल्पमप्यस्ति किंचित्।।

अनु० 'भव्य'

मातृ–गर्भ में अशुचि दशा में, जहाँ संकुचित तन सारा।
कितना कष्ट सहन करता है, वहाँ जीव फँस बेचारा।।
यौवन के सुख भोगों में भी, प्रिया–विरह करता कातर।
वृद्ध हुए तो नारि सुनयनी, करे अनादर हँस–हँस कर।।
अतः जन्म से मरण–समय तक, यदि हो जीवन–अवलोकन।
तो मानव क्या कहीं दिखेगा, सच्चे–सुख का किंचित कण।।

(३८)

व्याघ्रीवतिष्ठति जरा परितर्जयन्ती
रोगाश्च शत्रव इव प्रहरन्ति देहम्।
आयुःपरिस्रवति भिन्नघटादिवाम्भो
लोकस्तथाप्यहितमाचरतीति चित्रम्।।

जरा सिंहिनी–सी सम्मुख है, करती है गर्जन तर्जन।
परम शत्रु–सम रोगादिक भी, करते रहते पीड़ित तन।।
छीज रही है आयु उसी विधि, फूटे भाजन से ज्यों जल।
है आश्चर्य कि तिस पर भी नर, करता अहित कुपथ पर चल।।

(३९)

भोगा भंगुरवृत्तयो बहुविधास्तैरेव चायं भव–
स्तत्कस्येह कृते परिभ्रमत रे लोकाः कृतं चेष्टितैः।
आशापाशशतोपशान्तिविशदं चेतः समाधीयतां
कामोत्पत्तिवशात् स्वधामनि यदि श्रद्धेयमस्मद्वचः।।

विविध भोग क्षणभंगुर सब हैं, तो भी इन सबके कारण।
फिर–फिर जग में पड़े भटकना, करके अगणित तन धारण।।
अतः मनुज! क्यों दौड़े फिरते, व्यर्थ भोग–संग्रह किस हित।
तनिक विचारो तो तुमको क्या, करना होगा यहाँ उचित।।
मेरे वचनों पर यदि श्रद्धा, तो तज कर आशा–बन्धन।
भर अनुराग–भाव एकान्तिक, चेत स्वरूप समाहित बन।।

अनु॰ 'भव्य'

(४०)

ब्रह्मेन्द्रादिमरुद्गणांस्तृणकणान्यत्र स्थितो मन्यते
यत्स्वादाद्विरसा भवन्ति विभवास्त्रैलोक्यराज्यादयः।
भोगः कोऽपि स एक एव परमो नित्योदितो जृम्भते
भो साधो क्षणभुंगुरे तदितरे भोगे रतिं मा कृथाः।।

जिसमें सुस्थित होकर नर को, इन्द्र मरुत ब्रह्मादिक सुर।
लगते सभी तुच्छ तृणवत ही, जगता यों अनुभव उर–पुर।।
हो जाते त्रैलोक्य राज्य के, वैभव सारे स्वाद–विहीन।
दिखता बस सर्वोच्च प्रकाशक, नित्यानन्द ब्रह्म आसीन।।
अतः साधु जन अन्य वस्तुएं, जो दें सुख सांसारिक सान्त।
उनके प्रति अनुरक्त न होना, भोग सभी वे व्यर्थ नितान्त।।

(४१)

सा रम्या नगरी महान्स नृपतिः सामन्तचक्रं च त–
त्पार्श्वे तस्य च सा विदग्धपरिषत्ताश्चन्द्रबिम्बाननाः।
उद्वृत्तः स च राजपुत्रनिवहस्ते बन्दिनस्ताः कथाः
सर्वं यस्य वशादगात् स्मृतिपथं कालाय तस्मै नमः।।

वही राजधानी सुरम्य है, और वही नरराज महान।
वही चक्र है सामन्तों का, वे ही परिषद् के विद्वान।।
वही रमणियाँ विधुवदनी हैं, वे ही उद्धत राजकुमार।
वही स्वस्ति–पाठक–समूह है, वही गुणों का तुमुलोच्चार।।
ये सब लीन हुये हैं जिसमें, और शेष हैं अब स्मृति मात्र।
जिसके वश सब, वही काल है, नमन उसे वह वन्दन–पात्र।।

(४२)

यत्रानेकः क्वचिदपि गृहे तत्र तिष्ठत्यथैको
यत्राप्येकस्तदनु बहवस्तत्र नैकोऽपि चान्ते।

अनु० 'भव्य'

इत्थं नेयौ रजनिदिवसौ लोलयन् द्वाविवाक्षौ
कालः कल्यो भुवनफलके क्रीडति प्राणिशारैः।।

जहाँ सदन में कभी विपुल जन, वहाँ एक ही शेष रहा।
जहाँ वास था कभी एक का, वहाँ पुनः समुदाय महा।।
किन्तु वहाँ भी आगे चलकर, शेष न कोई भी रहता।
इस प्रकार सर्वत्र पहुँच रख, काल अक्ष की गति गहता।।
रात और दिन दो पाँसों को, काल ग्रहण करता तजता।
बना–बना गोटी जीवों को, चित्र खेल जग में सृजता।।

(४३)

आदित्यस्य गतागतैरहरहः संक्षीयते जीवितं
व्यापारैर्बहुकार्यभारगुरुभिः कालोऽपि न ज्ञायते।
दृष्ट्वा जन्मजराविपत्तिमरणं त्रासश्च नोत्पद्यते
पीत्वा मोहमयीं प्रमादमदिरामुन्मत्तभूतं जगत्।।

रवि के उदय–अस्त सँग अनुदिन, आयु मनुज की होती क्षीण।
कार्य–भार सिर रख अशेष वह, घूमा करता है लवलीन।।
उसे काल–गति का न ज्ञान कुछ, जन्म जरा क्षय विपद न ज्ञात।
उसे न इनका त्रास जगत में, मोह–मद्य से मति का घात।।

(४४)

रात्रिः सैव पुनः स एव दिवसो मत्वा मुधा जन्तवो
धावन्त्युद्यमिनस्तथैव निभृतप्रारब्धतत्तत्क्रियाः।
व्यापारैः पुनरुक्तभूतविषयैरित्थंविधेनामुना
संसारेण कदर्थिता वयमहो मोहान्न लज्जामहे।।

रात वही है दिवस वही है, भ्रान्त भाव ऐसा रखकर।
उद्यमरत हम फिर–फिर करते, उन कामों में हो तत्पर।।
जिन्हें पूर्व हम कर आये हैं, चुपचुप बिना विचार किये।
और भोग फिर–फिर हम भोगें, जिन्हें पूर्व हैं भोग लिये।।

अनु० 'भव्य'

समय जा रहा ध्यान न इसका, ध्यान न इनमें सार नहीं।
मोहग्रस्त हम, हमें हँसे जग, पर न लाज है हमें कहीं।।

(४५)

न ध्यातं पदमीश्वरस्य विधिवत्संसारविच्छित्तये
स्वर्गद्वारकपाटपाटनपटुर्धर्मोऽपि नोपार्जितः।
नारीपीनपयोधरोरुयुगलं स्वप्नेऽपि नालिङ्गतं
मातुः केवलमेव यौवनवनच्छेदेकुठारा वयम्।।

भव से मुक्ति–प्राप्ति–हित जिसने, किया नहीं ईश्वर का ध्यान।
स्वर्ग–कपाट खोलने वाला, किया न सुफल धर्म–संधान।।
भेंटे नहीं स्वप्न में भी जिसने, नारी के युग कुच उरु पीन।
किया जन्म ले उसने यौवन, माँ का व्यर्थ नष्ट फलहीन।।

(४६)

नाभ्यस्ता प्रतिवादिवृन्ददमनी विद्या विनीतोचिता
खड्गाग्रैः करिकुम्भपीठदलनैर्नाकं न नीतं यशः।
कान्ताकोमलपल्लवाधररसः पीतो न चन्द्रोदये
तारुण्यं गतमेव निष्फलमहो शून्यालये दीपवत्।।

शील समन्वित पढ़ी न विद्या, ले जो प्रतिवादी को जीत।
करिवर–कुम्भ–विदारक असि से, यश न स्वर्ग तक गया पुनीत।।
किया न सित निशि में कान्ता के, मंजु अधर–रस का ही पान।
यौवन निष्फल हुआ अहो! यों, शून्य सदन में दीप–समान।।

(४७)

विद्या नाधिगता कलंकरहिता वित्तं च नोपार्जितं
शुश्रूषापि समाहितेन मनसा पित्रोर्न संपादिता।
आलोलायतलोचनाः प्रियतमाः स्वप्नेऽपि नालिङ्गिताः
कालोऽयं परपिण्डलोलुपतया काकैरिव प्रेर्यते।।

अनु० 'भव्य'

निष्कलंक विद्या न प्राप्त की, किया नहीं धन भी अर्जित।
माता और पिता की सेवा, की न लगा मन संपादित।।
चंचल आयतनयनि प्रिया को, श्लिष्ट स्वप्न में भी न किया।
हा! परान्न–बलि–लोलुप बनकर, समय काक–सा बिता दिया।।

(४८)

वयं येभ्यो जाताश्चिरपरिचिता एव खलु ते
समं यैः संवृद्धाः स्मृतिविषयतां तेऽपि गमिताः।
इदानीमेते स्मः प्रतिदिवसमासन्नपतना
गतास्तुल्यावस्थां सिकतिलनदीतीरतरुभिः।।

माता पिता जन्म जिनसे यह, चिर दिन पूर्व गये ऊपर।
हैं स्मृति में ही अब सम वय के, वे भी गत हैं हो जर्जर।।
हम सबकी भी वृद्धापन में, अब दिन–दिन है गति वैसी।
सरिता के सैकत तट पर स्थित, तरुओं की होती जैसी।।

(४९)

आयुर्वर्षशतं नृणां परिमितं रात्रौ तदर्धं गतं
तस्यार्धस्य परस्य चार्धमपरं बालत्ववृद्धत्वयोः।।
शेषं व्याधिवियोगदुःखसहितं सेवादिभिर्नीयते
जीवे वारितरंगचञ्चलतरे सौख्यं कुतः प्राणिनाम्।।

नर की आयु वर्ष सौ की बस, उसका आधा निशि खाती।
शेष अर्द्ध का अर्द्ध भाग वय, बाल्य–जरा में खप जाती।।
फिर जो शेष वियोग, व्याधि, दुख, सेवादिक में चुक जाता।
जल तरंग–सा भंगुर जीवन, जीव कहाँ है, सुख पाता।।

(५०)

क्षणं बालो भूत्वा क्षणपि युवा कामरसिकः
क्षणं वित्तैर्हीनः क्षणमपि च संपूर्णविभवः।

जराजीर्णैरङ्गैर्नट इव वलीमण्डिततनु–
नर्रः संसारान्ते विशति यमधानीयवनिकाम्।।

क्षण भर केवल बाल्य–केलि है, क्षण भर को ही काम सरस।
क्षण में ही निर्धनता आती, क्षण में मिलता धन बरबस।।
सिकुड़न–संकुल जरा–जीर्ण यह, तन जग में है हो जाता।
नर कर नट–सा नाट्य अन्ततः, लौट काल मुख में आता।।

(५१)

त्वं राजा वयमप्युपासितगुरुप्रज्ञाभिमानोन्नताः
ख्यातस्त्वं विभवैर्यशांसि कवयो दिक्षु प्रतन्वन्ति नः।
इत्थं मानधनातिदूरमुभयोरप्यावयोरन्तरं
यद्यस्मासु पराङ्मुखोऽसि वयमप्येकान्ततो निःस्पृहाः।।

आप नृपति तो हम भी तो हैं, गुरु–सेवा कर प्रज्ञ–प्रधान।
धन से ख्यात आप तो कविगण, हमें चतुर्दिक दें सम्मान।।
तो अभिमानी नृपति! कहाँ यों, रहा आप में हममें भेद।
अतः हमें यदि आप न मानें, तो न हमें इससे कुछ खेद।।

(५२)

अर्थानामीशिषे त्वं वयमपि च गिरामीश्महे यावदर्थं
शूरस्त्वं वादिदर्पव्युपशमनविधावक्षयं पाटवं नः।
सेवन्ते त्वां धनाढ्या मतिमलहतये मामपि श्रोतुकामा
मय्यप्यास्था न ते चेत्त्वयि मम नितरामेव राजन्ननास्था।।

नृपति! आप यदि धनपति तो हम, रखते प्रभुता वाणी पर।
आप शूर तो हम भी मेटें, अपने वादी का मद–ज्वर।।
यदि धनान्ध के सेव्य आप तो, वे जो वेदाध्ययन करें।
रहें हमारी सेवा में हम, उनका मति–तम हरण करें।।

अनु० 'भव्य'

(५३)

वयमिह परितुष्टा वल्कलैस्त्वं दुकूलैः
सम इव परितोषो निर्विशेषो विशेषः।
स तु भवतु दरिद्रो यस्य तृष्णा विशाला
मनसि च परितुष्टे कोऽर्थवान्को दरिद्रः।।

नृप! बल्कल से तुष्ट जहाँ हम, हैं दुकूल से आप वहीं।
उभय पक्ष में तोष तुल्य है, दोनों में कुछ भेद नहीं।।
भेद कहाँ तब धनी दीन का, जब मन में संतोष सही।
है विशाल तृष्णा जिस जन की, जग में गण्य दरिद्र वही।।

(५४)

फलमलमशनाय स्वादु पानाय तोयं
क्षितिरपि शयनार्थं वाससे वल्कलं च।
नवधनमधुपानभ्रान्तसर्वेन्द्रियाणा–
मविनयमनुमन्तुं नोत्सहे दुर्जनानाम्।।

खाने को फल, पीने को जब, स्वादयुक्त जल मिलता है।
पट को वल्कल और शयन को, जब धरतीतल मिलता है।।
तो नव संचित धन–मदिरा से, मदोन्मत्त नर के अविनय।
नहीं मनस्वी जन सह सकते, निश्चित मत यह निःसंशय।।

(५५)

आशीमहि वयं भिक्षामाशावासो वसीमहि।
शयीमहि महीपृष्ठे कुर्वीमहि किमीश्वरैः।।

जब भिक्षा ही भोजन मेरा, वस्त्र दिशाएं शयन धरा।
तब है कौन प्रयोजन मेरा, वहाँ जहाँ हो विभव भरा।।

अनु० 'भव्य'

(५६)

न नटा न विटा न गायका न च सभ्येतरवादचुञ्चवः।
नृपमीक्षितुमत्र के वयं स्तनभारानमिता न योषितः।।

हम नट नहीं न विट ही हैं हम, और न ऐसे गायक नर।
जो विनोद परिहास वचन से, दें सभ्यों को हर्षित कर।।
ना कुचभार--नमित वनिता तो, नृप--दर्शन को क्या जाना।
हम जैसे तो समझ रखें यह, है न वहाँ आदर पाना।।

(५७)

विपुलहृदयैरीशैरेतज्जगज्जनितं पुरा
विधृतमपरैर्दत्तं चान्यैर्विजित्य तृणं यथा।
इह हि भुवनान्यन्ये धीराश्चतुर्दश भुञ्जते
कतिपयपुरस्वाम्ये पुंसां क एष मदज्वरः।।

हो उदार कितनों ने ही, पुरा काल में रचा जगत।
कितनों ने ही पाला इसको, जीत इसे त्यागा तृणवत।।
भोग रहे चौदहो भुवन हैं, अब भी धीर पुरुष कितने।
तब क्या उचित कि कुछ ही पुर के, पति हों मद माते इतने।।

(५८)

अभुक्तायां यस्यां क्षणमपि न जातं नृपशत--
र्भुवस्तस्या लाभे क इव बहुमानः क्षितिभृताम्।
तदंशस्याप्यंशे तदवयवलेशेऽपि पतयो
विषादे कर्तव्ये विदधति जडाः प्रत्युत मुदम्।।

शत--शत भूपों ने जिस भू को, भोग अतृप्त प्रयाण किया।
उसको पाकर कितनों ने ही, निरा व्यर्थ अभिमान किया।।
तो उसके अंशांश अंश का, अंश प्राप्त कर जो मुदमय।
जबकि दुखित होना था वे दें, यौंनिज जड़ता का परिचय।।

अनु० 'भव्य'

(५६)

मृत्पिण्डो जलरेखया वलयितः सर्वोऽप्ययं नन्वणुः
स्वांशीकृत्य तमेव संगरशतै राज्ञां गणा भुञ्जते।
ते दद्युर्ददतोऽथवा किमपरं क्षुद्रा दरिद्रा भृशं
धिग्धिक्तान्पुरुषाधमान्धनकणान् वाञ्छन्ति तेभ्योऽपि ये।।

छोटी–सी मिट्टी की पृथ्वी, घिरी जलधि से चारों ओर।
फिर भी इसको खण्ड–खण्ड कर, भोगें नृप कर रण शत घोर।।
दिया नहीं है और न दें जो, वे नृप तुच्छ दरिद्र समान।
पर धिक ! अधिक नीच हैं वे जो, इनसे माँगे भिक्षा–दान।।

(६०)

स जातः कोऽप्यासीन्मदनरिपुणा मूर्ध्नि धवलं
कपालं यस्योच्चैर्विनिहितमलंकारविधये।
नृभिः प्राणत्राणप्रवणमतिभिः कैश्चिदधुना
नमद्भिः कः पुंसामयमतुलदर्पज्वरभरः।।

जन्म सफल है ऐसे नर का, शिव ले जिसका धवल कपाल।
धारण करते हैं निज शिर पर, मानों भूषण मान्य विशाल।।
किन्तु आज कल निज प्राणों की, चिन्ता में ही हो अति दीन।
जो पर सम्मुख शीश झुकाते, वे भी हों क्यों अहमितिलीन।।

(६१)

परेषां चेतांसि प्रतिदिवसमाराध्य बहुधा
प्रसादं किं नेतुं विशसि हृदय क्लेशकलितम्।
प्रसन्ने त्वय्यन्तः स्वयमुदितचिन्तामणिगणो
विविक्तः संकल्पः किमभिलषितं पुष्यति न ते।।

मन! क्यों चित्तवृत्ति औरों की, निज अनुकूल किया करता।
इस प्रयास में अनुदिन रह क्यों, उर क्लेशों से है भरता।।

अनु० 'भव्य'

चित्त प्रसन्न रखो निज तो हो, चिन्तामणि वह स्वयं उदित।
जो संकल्प विकल्प मिटाये, करके अभिलाषा पूरित।।

(६२)

परिभ्रमसि किं मुधा क्वचन चित्त विश्राम्यतां
स्वयं भवति यद्यथा भवति तत्तथा नान्यथा।
अतीतमननुस्मरन्नपि च भाव्यसंकल्पय–
न्नतर्कितसमागमाननुभवामि भोगानहम्।।

चित्त! व्यर्थ ही जहाँ तहाँ मत, भ्रमो कहीं विश्राम करो।
जो जैसे होना है होगा, वैसे उर यह ध्यान धारो।।
जब न अन्यथा होने का तो, छोड़ भूत का अनुचिन्तन।
भोगूँगा प्रारब्ध मात्र मैं, सोच न भावी, प्रति किंचन।।

(६३)

एतस्माद्विरमेन्द्रियार्थगहनादायासकादाश्रय
श्रेयोमार्गमशेषदुःखशमनव्यापारदक्षं क्षणात्।
स्वात्मीभावमुपैहि संत्यज निजां कल्लोललोलां गतिं–
मा भूयो भज भङ्गुरां भवरतिं चेतः प्रसीदाधुना।।

चित्त! विषय–वन ही कारण है, सभी दुखों का इसे तजो।
श्रेय–मार्ग जो क्षण में सब दुख, दूर भगाये उसे भजो।।
जल तरंग सी चंचल निज गति, तज कर स्वामी-भाव गहो।
हो आसक्त न इस क्षर जग पर, इस विधि सदा प्रसन्न रहो।।

(६४)

मोहं मार्जय तामुपार्जय रतिं चन्द्रार्धचूडामणौ
चेतः स्वर्गतरंगिणीतटभुवामासङ्गीमङ्गीकुरु।
को वा वीचिषु बुद्बुदेषु च तडिल्लेखासु च श्रीषु च
ज्वालाग्रेषु च पन्नगेषु च सुहृद्वर्गेषु च प्रत्ययः।।

अनु० 'भव्य'

चित्त! मोह तज रति कर उनसे, चन्द्रमौलि जो शिव शंकर।
रख अभिलाष कि हो रहने को, स्थान कहीं सुरसरि–तट पर।।
बुदबुद, लहर, तड़ित, सम्पद, अहि, ज्वाल–शिखर या सुहृद छली।
कौन भरोसा इनका ये क्षर, शिव–सुरसरि प्रति भक्ति भली।।

(६५)

चेतश्चिन्तय मा रमां सकृदिमामस्थायिनीमास्थया
भूपालभ्रुकुटीकटीविहरणव्यापारपण्याङ्गनाम्।
कन्थाकञ्चुकिनः प्रविश्य भवनद्वाराणि वाराणसी–
रथ्यापंक्तिषु पाणिपात्रपतितां भिक्षामपेक्षामहे।।

जो भूपों के भ्रू–विलास और, वारांगना–सदृश चंचल।
चित्त! न उसको आदर देना, लक्ष्मी वह अस्थिर प्रतिपल।।
चलो पहन कर जीर्ण वसन हम, वाराणसि की गली–गली।
द्वार–द्वार जा भिक्षा माँगें, पात्र रहे बस करांजली।।

(६६)

अग्रे गीतं सरसकवयः पार्श्वयोर्दाक्षिणात्याः
पश्चाल्लीलावलयरणितं चामरग्राहिणीनाम्।
यद्यस्त्वेवं कुरु भवरसास्वादने लम्पटत्वं
नो चेच्चेतः प्रविश सहसा निर्विकल्पे समाधौ।।

यदि प्रवीण गायक लोगों का, सम्मुख चलता हो संगीत।
उभय पार्श्व में दक्षिण के कवि, स्तव करते हों मधुमय प्रीत।।
पीछे चँवर ढुलें वनिताएं, आती हो कंकण–झंकार।
तो भोगो जग, रस–लम्पट हो , न तो समाधि करो स्वीकार।।

(६७)

प्राप्ताः श्रियः सकलकामदुधास्ततः किं
न्यस्तं पदं शिरसि विद्विषतां ततः किम्।

संपादिताः प्रणयिनो विभवैस्ततः किं
कल्पस्थितास्तनुभृतां तनवस्ततः किम्।।

मानव! यदि सब कामप्रपूरक, धन अर्जित तो इससे क्या ?
शिर पर पद रख किया शत्रु का, गर्व दमित तो इससे क्या ?
प्रणयी जन को धन के द्वारा, स्ववश किया तो इससे क्या ?
इस तन को यदि एक कल्प तक, बचा लिया तो इससे क्या ?

(६८)

भक्तिर्भवे मरणजन्मभयं हृदिस्थं
स्नेहो न बन्धुषु न मन्मथजा विकाराः।
संसर्गदोषरहिता विजना वनान्ता
वैराग्यमस्ति किमितः परमर्थनीयम्।।

शिव के प्रति हो भक्ति तथा हो, उर में जरा मरण का भय।
हो अनुराग न बन्धु–वर्ग से, हों गत काम–दोष समुदय।।
वास विजन वन के भीतर हो, सब्र संसर्गों से विरहित।
तभी सधे वैराग्य, श्रेय है, इससे बढ़ किसमें संस्थित।।

(६९)

तस्मादनन्तमजरं परमं विकासि
तद्ब्रह्मचिन्तय किमेभिरसद्विकल्पैः।
यस्यानुषङ्गिण इमे भुवनाधिपत्य–
भोगादयः कृपणलोकमता भवन्ति।।

अतः ब्रह्म का चिन्तन कर नर ! अजर अनन्त परम है वह।
तथा प्रकाश रूप है इससे, अन्य सोच में व्यर्थ न रह।।
उसका ही अनुसरण भुवन के, स्वत्व भोग आदिक करते।
जिन्हें अज्ञ जन अति आदर से, अपना चरम इष्ट वरते।।

अनु० 'भव्य'

(७०)

पातालमाविशसि यासि नभो विलङ्घ्य
दिङ्मण्डलं भ्रमसि मानस चापलेन।
भ्रान्त्यापि जातु विमलं कथमात्मनीनं
न ब्रह्म संस्मरसि निर्वृतिमेषि येन।।

मन! तू अपनी चंचलता से, कर जाता पाताल प्रवेश।
और कभी फिरता है नभ में, कभी सभी दिशि देश–विदेश।।
किन्तु न कभी भूल कर भी तू, ले जाता है उस पर ध्यान।
जो है विमल ब्रह्म स्वात्मा ही, जो कर सकता मोक्ष प्रदान।।

(७१)

किं वेदैः स्मृतिभिः पुराणपठनैः शास्त्रैर्महाविस्तरैः
स्वर्गग्रामकुटीनिवासफलदैः कर्मक्रियाविभ्रमैः।
मुक्त्वैकं भवदुःखभाररचनाविध्वंसकालानलं
स्वात्मानन्दपदप्रवेशकलनं शेषैर्वणिग्वृत्तिभिः।।

वेद पुराणों या स्मृतियों से, विस्तृत शास्त्रों से अथवा।
स्वर्ग–धाम में ग्राम–कुटी दें, जो उन कर्मों से अथवा।।
कौन प्रयोजन सध सकता जब, दुख जो हों भव–बन्धन से ।
जलते स्वात्मानन्द अनल से, ना कि वणिक–मति–धारण से।।

(७२)

यतो मेरुः श्रीमान्निपतति युगान्ताग्निवलितः
समुद्राः शुष्यन्ति प्रचुरमकरग्राहनिलयाः।
धरा गच्छत्यन्तं धरणिधरपादैरपि धृता
शरीरे का वार्ता करिकलभकर्णाग्रचपले।।

जब समृद्ध गिरि महामेरु भी, प्रलय–अग्नि में होता क्षार।
और शुष्क हो जाता जलनिधि, मकर–ग्राह का विपुलागार।।

अनु० 'भव्य'

होती नष्ट धरा भी जिसको, थामे गिरि के चरण रहें।
तो करि–शावक–श्रुति–सम चंचल, इस तन की क्या दशा कहें।।

(७३)

गात्रं संकुचितं गतिर्विगलिता भ्रष्टा च दन्तावलि–
दृष्टिर्नश्यति वर्धते बधिरता वक्त्रं च लालायते।
वाक्यं नाद्रियते च बान्धवजनो भार्या न शुश्रूषते
हा कष्टं पुरुषस्य जीर्णवयसः पुत्रोऽप्यमित्रायते।।

आकर जरा किया करती है, गात्र संकुचित, पद–गति क्षीण।
दशन–पंक्तियाँ गिर जाती हैं, दृष्टि–शक्ति हो जाती दीन।।
श्रवण–शक्ति घट जाती क्रमशः, मुख से लगे निकलने लार।
सादर सुनें न बान्धव तजती, पत्नी भी सेवा का भार।।
अहो! पुरुष को वृद्धावस्था, आकर देती कितना कष्ट।
और कहें क्या अपने सुत भी, बनें शत्रु हो इससे भ्रष्ट।।

(७४)

वर्णं सितं झटिति वीक्ष्य शिरोरुहाणां
स्थानं जरापरिभवस्य तदा पुमांसम्।
आरोपितास्थिशतकं परिहृत्य यान्ति
चण्डालकूपमिव दूरतरं तरुण्यः।।

जराग्रस्त अति वृद्ध पुरुष के, श्वेत केश लख कर तत्क्षण।
अस्थियुक्त चण्डाल–कूप–सा, तजें घृणा कर युवतीगण।।

(७५)

यावत्स्वस्थमिदं शरीरमरुजं यावज्जरा दूरतो
यावच्चेन्द्रियशक्तिरप्रतिहता यावत्क्षयो नायुषः।
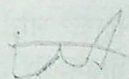
अनु० 'भव्य'

आत्मश्रेयसि तावदेव विदुषा कार्यः प्रयत्नो महा–
न्संदीप्ते भवने तु कूपखननं प्रत्युद्यमः कीदृशः।।

जब तक यह तन स्वस्थ विरुज है, जब तक वृद्धावस्था दूर।
जब तक शक्ति इन्द्रियों में है, जब तक है आयुष्य न पूर।।
तब तक उचित कि करें विदुष जन, आत्मश्रेय–हित यत्न महान।
वरना होगा घर को जलते, देख कूप–उत्खनन समान।।

(७६)

तपस्यन्तः सन्तः किमधिनिवसामः सुरनदीं
गुणोदारान्दारानुत परिचरामः सविनयम्।
पिबामः शास्त्रौघानुत विविधकाव्यामृतरसा–
न्न विद्मः किं कुर्मः कतिपयनिमेषायुषि जने।।

क्या हम तपते रहें कि जाकर, वास करें हम सुरसरि–तीर।
गुणी स्त्रियों की सेवा में या, सविनय दें हम खपा शरीर।।
या अनेक काव्यामृत का या, शास्त्र–स्रोत का कर लें पान।
आयु मिली है स्वल्प क्षणों की, क्या कर लें नर सकें न जान।।

(७७)

दुराराध्याश्चामी तुरगचलचित्ताः क्षितिभुजो
वयं च स्थूलेच्छाः सुमहति फले बद्धमनसः।
जरा देहं मृत्युर्हरति दयितं जीवितमिदं
सखे नान्यच्छ्रेयो जगति विदुषोऽन्यत्र तपसः।।

दुराराध्य हैं सखे! भूप सब, हय–सम इनका चित्त चपल।
फल में मन आसक्त हमारा, अभिलाषाएं स्थूल सकल।।
जरा देह को ग्रस लेती है, होते प्राण काल–कवलित।
रखा न जग में श्रेय यहाँ कुछ, श्रेय न बुध को तप–वंचित।।

अनु० 'भव्य'

(७८)

माने म्लायिनि खण्डिते च वसुनि व्यर्थे प्रयातेऽर्थिनि
क्षीणे बन्धुजने गते परिजने नष्टेशनैर्यौवने।।
युक्तं केवलमेतदेव सुधियां यज्जह्नुकन्यापयः–
पूतग्रावगिरीन्द्रकन्दरतटीकुञ्जे निवासः क्वचित्।।

मान घटे या धन विनष्ट हो, या भिक्षुक लौटें निष्फल।
बन्धु क्षीण हों स्वजन मरण या, जाये यौवन या जब ढल।।
तो है उचित कि बुद्धिमान नर, रहे हिमालय–कन्दर में।
जो हो पावन गंगा जल से, निर्जन लतिका–परिसर में।।

(७९)

रम्याश्चन्द्रमरीचयस्तृणवती रम्या वनान्तःस्थली
रम्यं साधुसमागमागतसुखं काव्येषु रम्याः कथाः।
कोपोपाहितबाष्पबिन्दुतरलं रम्यं प्रियाया मुखं
सर्वं रम्यमनित्यतामुपगते चित्ते न किंचित्पुनः।।

रम्य चन्द्र–किरणें लगती हैं, रम्य विपिन तृणमय अंचल।
रम्य सुखद है साधु–समागम, रम्य काव्यमय कथा सजल।।
रम्य प्रेयसी का मुख है जो, मान–अश्रु से हो सिंचित।
पर जब नित्यानित्य–भेद तो, रम्य न ये लगते किंचित।।

(८०)

रम्यं हर्म्यतलं न किं वसतये श्रव्यं न गेयादिकं
किं वा प्राणसमासमागमसुखं नैवाधिकप्रीतये।
किन्तु भ्रान्तपतंगपक्षपवनव्यालोलदीपांकुर–
च्छायाचञ्चलमाकलय्य सकलं सन्तो वनान्तं गताः।।

थीं रहने को महल अटाएं, था सुनने को मृदु संगीत।
और भोग को प्राणप्रिया का, आलिंगन था अतिशय प्रीत।।

अनु० 'भव्य'

किन्तु सन्त जन शलभ–पंखसे, दोलित दीपशिखा से जन्य।
छाया–सदृश मान क्षर इनको, तजें इन्हें जा बसें अरण्य।।

(८१)

आसंसारात्त्रिभुवनमिदं चिन्वतां तात तादृ–
ङ्नैवास्माकं नयनपदवीं श्रोत्रमार्गं गतो वा।
योऽयं धत्ते विषयकरिणीगाढगूढाभिमान–
क्षीबस्यान्तःकरणकरिणः संयमानायलीलाम्।।

जब से सृष्टि हुई तबसे प्रिय!, त्रिभुवन में खोजा है पर।
न तो दिखाई पड़ा पुरुष वह, तथा न हुआ कर्ण–गोचर।।
जो विषयों की लिप्सा रूपी, करिणी के आलिंगन में।
वद्ध मस्त करि–सदृश चित्त को, लाये सम्यक–बन्धन में।।

(८२)

यदेतत्स्वच्छन्दं विहरणमकार्पण्यमशनं
सहार्यैः संवासः श्रुतमुपशमैकव्रतफलम्।
मनो मन्दस्पन्दं बहिरपि चिरस्यापि विमृश–
न्न जाने कस्यैषा परिणतिरुदारस्य तपसः।।

विचरण अति स्वच्छन्द भाव से, और दैन्य–विरहित भोजन।
साधु–संग में वेद–श्रवण का, फल पाना केवल शम–धन।।
वाह्य वृत्ति मन की रुक जाना, होती हैं जो स्थितियाँ यों।
किस तप के फल, समझ न पाता, बहुत सोचने पर भी क्यों।।

(८३)

जीर्णा एवं मनोरथाश्च हृदये यातं च तद्यौवनं
हन्ताङ्गेषु गुणाश्च वन्ध्यफलतां याता गुणज्ञैर्विना।
किं युक्तं सहसाभ्युपैति बलवान्कालः कृतान्तोऽक्षमी
हा ज्ञातं मदनान्तकाङ्घ्रियुगलं मुक्त्वास्ति नान्या गतिः।।

अनु० 'भव्य'

हुए मनोरथ गत रह उर में, यौवन अंगों में न रहा।
बिना गुणज्ञों के निष्फल हैं, गुण सारे यह दुखद महा।।
काल रूप यम बली न छोड़े, द्रुत कवलित है कर जाता।
तो उपाय क्या ? समझ सका यह, शिव–पद ही आश्रयदाता।।

(८४)

महेश्वरे वा जगतामधीश्वरे जनार्दने वा जगदन्तरात्मनि।
न वस्तुभेदप्रतिपत्तिरस्ति मे तथापि भक्तिस्तरुणेन्दुशेखरे।।

मुझे महेश्वर जगत–अधीश्वर, जग के आत्म जनार्दन में।
भेद न दिखता, तदपि भला क्यों, भक्ति महेश्वर प्रति मन में।।

(८५)

स्फुरत्स्फारज्योत्स्नाधवलिततले क्वापि पुलिने
सुखासीनाः शान्तध्वनिषु रजनीषु द्युसरितः।
भवाभोगोद्विग्नाः शिव शिव शिवेत्युच्चवचसः
कदा यास्यामोऽन्तर्गतबहुलबाष्पाकुलदशाम्।।

विस्तृत धवल चन्द्रिका–मण्डित, सैकत शांत गंग के तीर।
कहीं सुखासन लगा निशा में, सोच–सोच करके भव–भीर।।
जन्म–मरण–दुख से हो व्याकुल, हे शिव! हे शिव! बारम्बार।
ऊँचे स्वर से कब टेरूँगा, होगा उर प्रेमाश्रु–प्रसार।।

(८६)

वितीर्णे सर्वस्वे तरुणकरुणापूर्णहृदयाः
स्मरन्तः संसारे विगुणपरिणामां विधिगतिम्।
वयं पुण्यारण्ये परिणतशरच्चन्द्रकिरणा–
स्त्रियामा नेष्यामो हरचरणचिन्तैकशरणाः।।

अनु० 'भव्य'

हम देकर सर्वस्व दान में, करुणा–कोमल अन्तस्तल।
सोच–सोच कर यही कि जग में, है दुख ही विधिगति का फल।।
कब निवसेंगे पुण्य विपिन में, हो अनन्य हरचरणाश्रित।
और बितायेंगे निशि सुन्दर, शरच्चन्द्रिका से प्लावित।।

(८७)

कदा वाराणस्याममरतटिनीरोधसि वस–
न्वसानः कौपीनं शिरसि निदधानोऽञ्जलिपुटम्।
अये गौरीनाथ त्रिपुरहर शम्भो त्रिनयन
प्रसीदेति क्रोशन्निमिषमिव नेष्यामि दिवसान्।।

वाराणसी पुरी जाकर मैं, रह सुरसरिता के तट पर।
धारण कर कौपीन मात्र पट, वद्ध–अंजली शिर पर धर।।
कब टेरूँगा, 'शम्भो! त्रिनयन! गौरीपति हे त्रिपुरहरण।
हों प्रसन्न हर ! हों प्रसन्न प्रभु, मात्र करूँगा यों क्रन्दन।।

(८८)

स्नात्वा गाङ्गैः पयोभिः शुचिकुसुमफलरर्चयित्वा विभो त्वां
ध्येये ध्यानं निवेश्य क्षितिधरकुहरग्रावपर्यङ्कमूले।
आत्मारामः फलाशी गुरुवचनरतस्त्वत्प्रसादात्स्मरारे
दुःखं मोक्ष्ये कदाहं समकरचरणे पुंसि सेवासमुत्थम्।।

नहा गंग में और तुम्हारा, फल सुमनों से अर्चन कर।
ध्यान तुम्हारे ध्येय पदों का, धर गिरि गुहा–शिलासन पर।।
चित्त समाहित रख रह फल पर, गुरु–वचनों में हो तत्पर।
पाऊँगा कब कृपा तुम्हारी, हे कामारि ! विभो, शंकर।।
तब मकरांकितपद धनिकों की, सेवा से जो दुख संभव।
हट जायेगा दूर सदा को, पर यह कब होगा हे भव।।

(८६)

एकाकी निःस्पृहः शान्तः पाणिपात्रो दिगम्बरः।
कदा शंभो भविष्यामि कर्मनिर्मूलनक्षमः।।

एकाकी अभिलाष–रहित हो, शान्त दिगम्बर करभाजन।
कर पाऊँगा कब शम्भो! मैं, कर्म–मूल का उच्चाटन।।

(९०)

पाणि पात्रयतां निसर्गशुचिना भैक्षेण संतुष्यतां
यत्र क्वापि निषीदतां बहुनृणं विश्वं मुहुः पश्यताम्।
अत्यागेऽपि तनोरखण्डपरमानन्दावबोधस्पृशा–
मध्वा कोऽपि शिवप्रसादसुलभः संपत्स्यते योगिनाम्।।

कर ही जिसका भाजन जो हो, प्रकृत शुद्ध भिक्षा से तुष्ट।
करे स्वेच्छ जो विचरण जिसमें, जग तृणवत यह मति परिपुष्ट ।।
तन रहते ही भोग रहा है, जो अखण्ड आनन्द परम ।
शिवप्रसाद से ही उनकी यह, दिव्य दशा स्वच्छन्द परम।।

(९१)

कौपीनं शतखण्ड़जर्जरतरं कन्था पुनस्तादृशी
नैश्चिन्त्यं निरपेक्षभैक्षमशनं निद्रा श्मशाने वने।
स्वातन्त्र्येण निरङ्कुशं विहरणं स्वान्तं प्रशान्तं सदा
स्थैर्य योगमहोत्सवेऽपि च यदि त्रैलोक्यराज्येन किम्।।

यदि कौपीन जीर्ण शत खण्डित, कन्था त्यों ही संग तथा।
बिन बन्धन के मिले भीख यदि, चिन्ता– संभव यदि न व्यथा।।
यदि शयनस्थल विपिन कि मरघट, यदि हो प्राप्त स्वेच्छ विचरण।
यदि उर शान्त, योग–सुख दृढ़ तो, इष्ट न सुख जो दे त्रिभुवन।।

अनु० 'भव्य'

(६२)

ब्रह्माण्डं मण्डलीमात्रं किं लोभाय मनस्विनः।
शफरीस्फुरितेनाब्धिः क्षुब्धो न खलु जायते।।

यह ब्रह्माण्ड प्रतिच्छाया है, लुभा मनस्वी को न सके।
जलनिधि में लघु शफरी जैसे, उठा तरंगों को न सके।।

(६३)

मातर्लक्ष्मि भजस्व कंचिदपरं मत्काङ्क्षिणी मा स्म भू–
र्भोगेषु स्पृहयालवस्तव वशे का निःस्पृहाणामसि।
सद्यःस्यूतपलाशपत्रपुटिकापात्रे पवित्रीकृतै–
र्भिक्षावस्तुभिरेव संप्रति वयं वृत्तिं समीहामहे।।

माँ लक्ष्मी ! कर कृपा अन्य पर, मोह हमारा करना मत।
तेरे वश भोगेच्छुक हैं तू, क्या उनको जो स्पृहा–विगत।।
इस क्षण हमें पलाश–पत्र के, ले दोने सद्यः निर्मित।
उनमें पड़ी शुद्ध भिक्षा से, वृत्ति चलाना ही ईप्सित।।

(६४)

महाशय्या पृथ्वी विपुलमुपधानं भुजलता
वितानं चाकाशं व्यजनमनुकूलोऽयमनिलः।
शरच्चन्द्रो दीपो विरतिवनितासंगमुदितः
सुखी शान्तः शेते मुनिरतनुभूतिर्नृप इव।।

धरती ही विस्तीर्ण शयन है, भुज–वल्ली विस्तृत उपधान।
और गगन है बना चँदोवा, व्यजन बना है यह पवमान।।
शरच्चन्द्र ही दीप बना है, संग विरक्ति–प्रिया अभिराम।
शान्त सुखी मन सोते योगी, ज्यों नृप अक्षय वैभववान।।

अनु० 'भव्य'

(६५)

भिक्षाशी जनमध्यसंगरहितः स्वायत्तचेष्टः सदा
हानादानविरक्तमार्गनिरतः कश्चित्तपस्वी स्थितः।
रथ्याकीर्णविशीर्णजीर्णवसनः संप्राप्तकन्थासनो
निर्मानो निरहंकृतिः शमसुखाभोगैकबद्धस्पृहः।।

जो निर्वाह करे भिक्षा पर, जो है जन–संसर्ग–रहित।
जो है स्ववश विचरने वाला, जो है लेन–देन–विरहित।।
जीर्ण शीर्ण पट पथ के जिसकी, कंथा जिसमें अहं नहीं।
मात्र शान्ति–सुख इच्छुक जो हो,, ऐसा नर तो विरल कहीं।।

(६६)

चण्डालः किमयं द्विजातिरथवा शूद्रोऽथ किं तापसः
किं वा तत्त्वविवेकपेशलमतिर्योगीश्वरः कोऽपि किम्।
इत्युत्पन्नविकल्पजल्पमुखरैराभाष्यमाणा जनै–
र्न क्रुद्धाः पथि नैव तुष्टमनसो यान्ति स्वयं योगिनः।।

है चाण्डाल कि है द्विजाति यह, या कि शूद्र या तपोधनी।
या योगीश्वर तज्ञ विमल मति, आकृति कैसी अहो बनी।।
भरी विकल्पों से यह वाणी, मुखर जनों की सुन पथ पर।
योगी होते रुष्ट न, मुद ही, बढ़ें मार्ग पर यत रहकर।।

(६७)

हिंसाशून्यमयत्नलभ्यमशनं धात्रा मरुत्कल्पितं
व्यालानां पशवस्तृणांकुरभुजस्तुष्टाः स्थलीशायिनः।
संसारार्णवलङ्घनक्षमधियां वृत्तिः कृता सा नृणां
तामन्वेषयतां प्रयान्ति सततं सर्वे समाप्तिं गुणाः।।

बिना यत्न हिंसा के अहि को, विधि से प्राप्त पवन आहार।
पशु को सहज भोज्य तृण मिलता, सोने को धरती–विस्तार।।
पर भव–तरण–समर्थ बुद्धियुत, नर को वृत्ति हुई जो प्राप्त।
उसके अर्जन में गुण–साधन, करने पड़ते उसे समाप्त।।

अनु० 'भव्य'

(९८)

गंगातीरे हिमगिरिशिलाबद्धपद्मासनस्य
ब्रह्मध्यानाभ्यसनविधिना योगनिद्रां गतस्य।
किं तैर्भाव्यं मम सुदिवसैर्यत्र ते निर्विशंकाः
कण्डूयन्ते जरठहरिणाः स्वाङ्गमङ्गे मदीये।।

कब होगा जब किसी शिला पर, हिमगिरि की गंगा-तट पर।
पद्मासन से सविधि बैठकर, ध्यान ब्रह्म का मैं धर कर।।
गहन योग–निद्रा–रत हूँगा, यों कि वृद्ध मृग ढिग आकर।
खुजलायेंगे निज सींगों से, यह तन निर्भय मुद पाकर।।

(९९)

पाणिः पात्रं पवित्रं भ्रमणपरिगतं भैक्षमक्षय्यमन्नं
विस्तीर्णं वस्त्रमाशादशकमचपलं तल्पमस्वल्पमुर्वी।
येषां निःसङ्गताङ्गीकरणपरिणतस्वान्तसंतोषिणस्ते
धन्याः संन्यस्तदैन्यव्यतिकरनिकराः कर्म निर्मूलयन्ति।।

कर शुचि भाजन और भ्रमण से, मिली भीख ही अक्षय अन्न।
विपुल वसन हों दशों दिशाएं, विस्तृत महि हो शयन प्रसन्न।।
अनासक्ति–अभ्यास–जनित हो, जिनके अन्तर में सन्तोष।
धन्य ! दैन्य–त्यागी न फँसें जो, कर्मों में जो शुभ कि स–दोष।।

(१००)

मातर्मेदिनि तात मारुत सखे तेजः सुबन्धो जल!
भ्रातर्व्योम निबद्ध एव भवतामन्त्यः प्रणामाञ्जलिः।
युष्मत्संगवशोपजातसुकृतस्फारस्फुरन्निर्मल–
ज्ञानापास्तसमस्तमोहमहिमा लीये परब्रह्मणि।।

हे भूमाता! पवन पिता हे, सखे तेज हे बन्धु सलिल।
गगन भ्रात हे, ले लें मेरी, प्रणमांजलि हे देव! अखिल।।
संग आपका पाकर मैंने, पुण्य किये, तम शमित हुआ।
मिली पात्रता मुझे आपसे, ब्रह्म–ऐक्य अब फलित हुआ।।

इति वैराग्यशतकं सम्पूर्णम् ।।

अनु० 'भव्य'

बैजनाथप्रसाद शुक्ल 'भव्य'

आत्मज स्व० पं० राम अक्षयवर शुक्ल -
(संन्यस्त स्वामी ओमानन्द)

जन्म : ११ जुलाई १९१८
ग्राम कोणरिया, पो० दियरा,
जि० सुलतानपुर, उ०प्र०

शिक्षा : बी०एससी० (सत्रार्ध)
प्रभाकर (हिन्दी ऑनर्स)

व्यवसाय : मुख्य लेखाधिकारी (सेवानिवृत्त)
दूर-संचार उ०प्र० परिमण्डल

प्रकाशित काव्य–कृतियाँ :

१. श्रीहनुमज्जयकार
२. विराट दर्शन
३. श्रीगीतागान (गीता का पद्यानुवाद)
४. आनन्द कुंज
५. अध्यात्म दोहावली
६. अध्यात्म गीतिका
७. जपुजी (पंजाबी से हिन्दी पद्यानुवाद–अवधी में)
८. द्रौपदी महाकाव्य | दोनों महाकाव्य उ०प्र०
९. कर्ण महाकाव्य | हिन्दी संस्थान द्वारा पुरस्कृत
१०. सुधि गाँव कै (अवधी काव्य)
११. मेघदूत (हिन्दी पद्यानुवाद)
१२. कुमारसम्भव (प्रथम पाँच सर्ग – हिन्दी पद्यानुवाद)
१४. भज गोविन्दम् (हिन्दी पद्यानुवाद)
१५. भर्तृहरि नीतिशतक (हिन्दी पद्यानुवाद)
१६. भर्तृहरि वैराग्यशतक (हिन्दी पद्यानुवाद)

'काव्यश्री' कन्हैयालाल प्रागदास स्मारक समिति
लखनऊ द्वारा प्रदत्त १९८९
'व्यक्तित्व एवं कृतित्व' एम०फिल० लघु शोध प्रबन्ध
लखनऊ विश्वविद्यालय १९९५
प्रकाश्य : गीतांजलि (हिन्दी पद्यानुवाद मूल बँगला से)